॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ — माघ
अंक दसवाँ — २४७६

हे जीव! तू आत्मा की श्रद्धा कर!

परमपारिणामिकभावरूप निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव को बतलाकर आचार्य-देव कहते हैं कि हे भाई! तू ऐसे शुद्ध जीवतत्त्व की श्रद्धा कर! 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं विकार का और जड़ की क्रिया का कर्ता हूँ'– ऐसी अशुद्धता की श्रद्धा तो तूने अनादिकाल से की है और इसी मिथ्याश्रद्धा के कारण तू संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इसलिए अब, यह विकार मैं नहीं हूँ, परन्तु जो 'परम शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ'– ऐसी शुद्धात्मा की श्रद्धा कर, तो तेरे आत्मा में शुद्धभाव प्रगट हो और अविनाशी कल्याण हो जाये।

[नियमसार-प्रवचन]

एक अंक
चार आना

५८

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

इस अंक के लेख

१- सुख की शोध में
२- नवतत्त्व
३- किसका आदर करने से सम्यग्दर्शन होता है।
४- भव-भ्रमण का भय
५- आत्मा को समझ लेने की महिमा
६- मान-अपमान
७- आत्मा का तैरने का स्वभाव कैसे ज्ञात होता है।

आत्मा का तैरने का स्वभाव कैसे ज्ञात होता है?

लकड़ी का स्वभाव पानी में तैरने का है; उसका वह स्वभाव कैसे ज्ञात होता है? यदि लकड़ी के टुकड़े कर डाले जायें तो उसका वह स्वभाव दिखायी नहीं देगा, क्योंकि वह आँखों से दिखायी दे, वैसा नहीं है। लकड़ी को मुँह से चबाये अथवा अग्नि में जला दे, तब भी उसका वह स्वभाव ज्ञात नहीं होगा। उसे घिसकर शरीर में लगाये तो भी उसका तैरने का स्वभाव ज्ञात नहीं होता। इस प्रकार किसी भी इन्द्रिय के द्वारा लकड़ी का स्वभाव ज्ञात नहीं होता, परन्तु अपने ज्ञान से ही, लकड़ी का स्वभाव ज्ञात होता है। अथवा लकड़ी पानी में पड़ी हो, वह तैरती है– ऐसा देखने से ही उसका स्वभाव निश्चित किया जा सकता है। लकड़ी की भाँति वह चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला है, उसका स्वभाव भी तैरने का है, उसका ज्ञानस्वभाव विकार में नहीं डूबता किन्तु विकार से पृथक् ही पृथक् रहता है अर्थात् तैरता है। चैतन्य का स्वभाव रागादि में एकमेक हो जाने का नहीं है, किन्तु पृथक् रहने का है। वह आत्मस्वभाव किस प्रकार ज्ञात होता है? किसी परसन्मुख देखने से या विकार से अथवा इन्द्रियज्ञान से वह ज्ञात नहीं होता। आत्मस्वभाव को जानने का एक ही उपाय है कि त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव की ओर अपने ज्ञान को झुकाना। ज्ञान को अपने स्वभाव की ओर उन्मुख करके देखे, तभी आत्मा का तैरने का स्वभाव ज्ञात होता है।

जिस प्रकार लकड़ी का छोटा सा टुकड़ा हो या पाँच सौ मन का भारी लक्कड़ हो, परन्तु दोनों का तैरने का स्वभाव है; उसे जानने की रीति एक ही है कि उसे पानी में डाला जाये। और गरम पानी का शीतल स्वभाव जानने की एक ही विधि है कि उसे ठंडा किया जाये। परन्तु यदि गरम पानी में गहराई तक हाथ डाला जाये तो उसकी शीतलता ज्ञात नहीं होती। यह दोनों दृष्टान्त हैं। वैसे ही आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह विकार में नहीं डूबता परन्तु उससे पृथक् ही पृथक् ऊपर तैरता है। उस ज्ञानस्वभाव को जानने के लिए वर्तमान पर्याय के सन्मुख देखा करे तो वह ज्ञात नहीं होगा। जो आत्मस्वभाव है, उसमें अपने ज्ञान को उन्मुख करने से ही वह ज्ञात होता है। बाह्य के अनेक संयोग और पर्याय के क्षणिक विकार को न देखकर, अपना असंग स्वभाव चैतन्य से परिपूर्ण है, उस स्वभाव का विश्वास करके ज्ञान को स्वभाव में युक्त करे, तभी स्वभाव ज्ञात होता है और सम्यग्ज्ञान होता है; एक प्रकार के स्वभाव के आश्रय से पर्यायें भी एक प्रकार की (शुद्धरूप) होती हैं, वही धर्म है।

यहाँ आचर्यदेव ज्ञानस्वभाव का पर से भिन्नत्व समझाते हैं। ज्ञान पर से भिन्न है, इसलिए पराश्रय से आत्मा का ज्ञान नहीं होता; ज्ञान तो आत्मस्वभाव के ही आश्रय से होता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वतः पूर्ण है, उसी के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है।

[-भेदविज्ञानसार]

माघ
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक-१०

सुख की शोध में

**[पद्मनन्दि पंचविंशतिका, सद्बोधचन्द्रोदय अधिकार, गाथा ८५ पर
– पूज्य श्री कानजीस्वामी का व्याख्यान]**

प्रत्येक आत्मा सुख को खोजता है। शरीर में, स्त्री में, लक्ष्मी में सुख ढूँढ़ता है; क्रोध करके या दूसरे को दुःख देकर भी आप सुखी होना चाहता है। चाहे जहाँ सुख हो, वहाँ से वह लेना चाहता है। अज्ञानी जीव सुख के लिए अनादि से बाह्य में व्यर्थ को दौड़-धूप कर रहा है, जैसे अपने में सुख है ही नहीं! सुख ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अन्त में शरीर को छोड़ देता है; तो फिर ऐसा सुख कहाँ है कि –जो शरीर के बिना भी हो? सब छोड़कर आत्मा में ही सुख है – ऐसा उसे भ्रान्ति में भी अव्यक्तरूप से आ जाता है। शरीर को छोड़कर भी यदि आपदा दूर करके सुखी हुआ जाता हो तो वह सुख लेना चाहता है। उसका अर्थ यह हुआ कि शरीर के बिना भी सुख होता है। शरीर में सुख नहीं है तो फिर स्त्री, लक्ष्मी इत्यादि में सुख कहाँ से होगा?

जीव, शरीरादि सबको छोड़कर भी सुख लेना चाहता है, इसलिए कहीं तो सुख है – ऐसी उसे श्रद्धा है। और शरीरादि सबको अलग करके भी सुख लेना चाहता है; शरीरादि सबको अलग कर देने से तो अकेला आत्मा रहता है, इसलिए अज्ञानरूप से भी 'आत्मा में ही सुख है'– ऐसी गंध अव्यक्तरूप से तो उसे रहती है।

कोई कहे कि लड्डू में सुख है; तो तीन लड्डुओं की अपेक्षा तीस लड्डुओं में दस गुना सुख हो। लेकिन तीन लड्डू खाने के पश्चात् कहता है कि बस! अब नहीं। यदि लड्डुओं में सुख हो तो उसमें 'अब नहीं'– ऐस न हो। और यदि पैसे में सुख हो तो एक हजार की सम्पत्तिवाले से एक लाख की सम्पत्तिवाले को सौ गुना सुख होना चाहिए और करोड़ रुपयों की सम्पत्तिवाले को उससे भी सौ गुना, परन्तु ऐसा तो दिखायी नहीं देता; क्योंकि पैसे में सुख नहीं है।

चैतन्य की सत्ता में ही सुख है। जो पर में से सुख को खोजता है, उसके अपने में ही सुख है। यदि उसके अपने में सुखस्वभाव न हो तो वह बाह्य में सुख नहीं ढूँढ़े। अपनी चैतन्यसत्ता में सुख है, और उसका साधन भी अपने में है। सुख का साधन बाह्य में नहीं है। चैतन्यसत्ता में आनन्द स्वभाव भरा है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव, पुण्य-पाप विकार को अपना स्वरूप मानता है, और बाह्य में सुख का साधन मानता है, वह अधर्म है, दुःख है। शरीर-मन-वाणी या पर-पदार्थ के साधन से मुझे धर्म हो, यह मान्यता अधर्म है। पराधीनता में स्वप्न में भी सुख नहीं है। ज्ञानस्वभावी आत्मा में सुख है, तथापि जिसने सुख के लिए परावलम्बन की आवश्यकता मानी, उसे स्व के अवलम्बन का, अर्थात् स्वाधीनता का अभाव होता है और पराधीनता होती है। पराधीनता ही दुःख है। दुःख है, वह सुखगुण की विपरीत अवस्था है। जीव की अवस्था में दुःख है, वह सिद्ध करता है कि उसमें त्रिकाल सुखगुण है। लकड़ी में क्रोध नहीं है, क्योंकि उसमें क्षमागुण नहीं है। जीव को राग-द्वेष की वृत्ति के कारण जो दुःख है, वह त्रिकाल सुखगुण को विकृत अवस्था है, वह विकृति क्षणिक है, उतना ही आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव अविकृत है। उसका जिसे भान नहीं है, वह जीव, परावलम्बी भाव करके स्वावलम्बी चैतन्य को भूलता है, वह अधर्म है। आत्मा के स्वाधीन चैतन्यस्वभाव में सुख है, उसे जाने तो धर्म हो। धर्म कहो या सुख-धर्म इस समय करे और सुख पीछे हो—ऐसा नहीं है, परन्तु धर्म तो रोकड़िया है; जो धर्म करे, उसे उसी समय सुख का अनुभव होता है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, ज्ञान का स्वभाव सबको जानने का है। परन्तु जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ के अवलम्बन में रुककर जानता है, वह ज्ञान पूर्ण नहीं जानता। दूसरों के अवलम्बन से तो चैतन्य का ज्ञान विकसित नहीं होता, परन्तु यहाँ तो आचार्य भगवान कहते हैं। कि मन के अवलम्बन से जो ज्ञान विकसित होता है, वह ज्ञान भी चैतन्यस्वभाव में प्रविष्ट नहीं होता। ज्ञान अरूपी है, मन तो रूपी-जड़ है। चाहे जितना ज्ञान एकत्रित हो जाये परन्तु उसमें किंचित् भार नहीं होता, क्योंकि वह अरूपीी है। और कई वर्ष पूर्व की बात याद करने में अधिक समय नहीं लगता। जिस प्रकार कल की बात याद करता है, उसी प्रकार पचास वर्ष पूर्व की बात भी क्षण में याद करता है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव काल को खा जाना है। एक समय में तीन काल को जान लेने का स्वभाव है;—ऐसा अपना ज्ञानसामर्थ्य है। पूर्व में विकारभाव किए हों, उनका वर्तमान में ज्ञान करे, तथापि ज्ञान के साथ पूर्व का विकार नहीं होता, विकार तो नवीन करे तो होता है, और न करे तो नहीं होता; इसलिए ज्ञान का स्वभाव विकाररहित है। इस शरीर के वियोग से चैतन्यसत्ता का नाश नहीं हो जाता, और विकारीभावों का नाश होने से भी चैतन्य-सत्ता का नाश

नहीं होता; इसलिए आत्मा की चैतन्यसत्ता शरीर से और विकार से भिन्न है। आत्मा अरूपी, ज्ञानस्वभावी और निर्विकारी है, ऐसे आत्मा में ही स्वाधीन सुख है– इसकी जब तक पहचान और प्रतीति न करे, तब तक जीव, सुख के सच्चे मार्ग पर नहीं है।

जिस प्रकार बालक लकड़ी को घोड़ा मानता है; परन्तु जब बिच्छू काटे, उस समय वह बैठने के काम में नहीं आता; उसी प्रकार अज्ञानी, पैसादि में सुख मानता है, परन्तु उसमें सुख नहीं है; किसी संयोग में से सुख नहीं भोगा जा सकता। अज्ञानी का चित्त स्वभाव को भूलकर बाह्य में ही लगा रहता है, परन्तु अन्तरोन्मुख नहीं होता। अज्ञानी का मन अनादि से बाह्य में ही क्यों फिरता है? अन्तरोन्मुख क्यों नहीं होता? उसके उत्तररूप में आचार्यदेव अलङ्कार से कहते हैं कि – यदि मन अन्तर स्वभावान्मुख हो तो मन की मृत्यु हो जाती है। इससे 'मन' को ऐसा होता है कि– 'यदि में अन्तर स्वरूपोन्मुख होऊँगा तो मेरी मृत्यु हेा जायेगी।' इसलिए मृत्यु के भय से वह बाहर ही भटकता है। आशय यह है कि हे जीव! प्रथम तो अन्तरस्वभावोन्मुख होकर श्रद्धा कर कि मन के अवलम्बन से मुझे लाभ नहीं होता। ऐसी श्रद्धा करके मन को थोथा (निर्माल्य) बना दे। पहले अन्तरोन्मुख होकर 'परावलम्बन से लाभ होता है'– ऐसी मान्यता का नाश करने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता से मन का अवलम्बन आता है, उसे श्रद्धा के बल से थोथा बना देते हैं। जिससे भय लगता हो, उसके पास नहीं जाते; उसी प्रकार अन्तरस्वभावोन्मुख होने में 'मन' को मृत्यु का भय है, इससे वह बाह्य में भटकता है; किन्तु अन्तरोन्मुख नहीं होता। इसलिए यहाँ अलंकार से आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि आत्मा का स्वभाव, मन से पार है; मन का अवलम्बन भी आत्मा को नहीं है।

आत्मा के स्वभाव को भूलकर उसने परावलम्बन माना है, वह मान्यता ही संसार है। आत्मा का संसार बाह्य में शरीर-स्त्री इत्यादि में नहीं है; यदि शरीरादि में आत्मा का संसार हो तो मरने पर उसे छोड़कर चला जाता है, इससे उसका संसार ही छूट जायेगा।

हे भाई! यह शरीर तेरी वस्तु नहीं है। यह तो जलकर राख हो जायेगा। शरीर में ऐसी शक्ति होती है कि – सींग पकड़कर बड़े भारी साँड़ को खड़ा रखे, और क्षयरोग हो जाने पर श्वास लेने की भी शक्ति नहीं रहती। यह तो शरीर की अवस्था है; वह शरीर तेरी वस्तु नहीं है; अन्तर में तेरी चैतन्यसत्ता है, उसे संभाल। एक क्षणमात्र भी चैतन्यसत्ता को पहचानकर सम्यक्ज्ञान प्रगट करे तो क्रमशः संसार दूर होकर मुक्ति हुए बिना न रहे। भाई! इस बात की अस्वीकार करके तू कहाँ जायेगा? कहाँ जाकर विश्राम लेगा? 'मैं नहीं हूँ'– ऐसा इन्कार करने में भी हाँ आ जाती है;

क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' –ऐसा किसने जाना? 'मैं नहीं हूँ'– ऐसा अस्वीकार किसका सत्ता में आया? इसलिए 'मैं नहीं हूँ'–ऐसा कहने में ही 'मैं हूँ'–ऐसी सिद्ध हो जाता है।

प्रभो! तेरी चैतन्यसत्ता को पर का अवलम्बन नहीं है। तेरे धर्म का आधार तेरी चैतन्यसत्ता है। तेरे धर्म का आधार शरीर नहीं है, मन नहीं है, पुण्य-पाप नहीं है; अन्तर में चैतन्यस्वभाव है, उसकी प्रतीति से ही धर्म होता है। भाई! तूने अपनी स्वावलम्बी चैतन्यसत्ता की कभी प्रतीति नहीं की है। चैतन्यसत्ता ऐसी नहीं है कि उसकी श्रद्धा के लिए पर का अवलम्बन हो! निर्लेप चैतन्यसत्ता शुद्ध है, उसकी प्रतीति मन के अवलम्बन से नहीं होती। ऐसी अपने चैतन्य भगवान की सत्ता को भूलकर अनादि से पर में सुख मान रहा है, वह मान्यता अब छोड़ दे, तो तेरा संसार दूर हो जाये और सच्चा-सुख प्रगट हो।

यदि चैतन्य सत्ता में उन्मुख होकर वहाँ एकाग्र हो तो मन मर जाता है, अर्थात् मन का अवलम्बन छूट जाता है। मन को मृत्यु का भय है, इससे वह चैतन्यस्वभाव में लीन नहीं होता। 'यदि मैं परमात्मस्वरूप में लीन होऊँगा तो मेरी मृत्यु हो जाएगी'– ऐसे मृत्यु के भय के कारण मन आत्मा में स्थिर नहीं होता और बाह्य में फिरता है। एकबार भी यदि मन का अवलम्बन छोड़कर आत्मस्वभावोन्मुख हो तो जन्म-मरण का नाश होकर मुक्ति होती है और मन के बिना मुक्त हो जाता है। यदि मन से पार चैतन्यस्वभाव आत्मा की महिमा जानकर उसमें स्थिर हो तो मन के संकल्प–विकल्प का नाश हो जाये और आत्मा को परमात्मदशा प्रगट हो जाये। पहले सत्समागम से ज्ञानस्वभावी आमा की पहचान करना चाहिए।

सुख का सागर चैतन्य प्रभु है, और जो दुःख है, वह क्षणिक विकार है; मन के अवलम्बन से भी वह विकार दूर नहीं होता। अन्तरङ्ग में चैतन्यसत्ता सुख से परिपूर्ण है, उसके अवलम्बन से धर्म का प्रारम्भ होता है और विकार दूर होता है। अन्तर में शरीरातीत-मनातीत-वचनातीत और विकारातीत चैतन्यसत्ता है, उसकी श्रद्धा को किसी का अवलम्बन नहीं है,– पहले इसका विश्वास आना चाहिए; चैतन्य सत्ता के विश्वास से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। जहाँ तक चैतन्य की श्रद्धा को निरालम्बी न बनाए और ज्ञान को राग रहित न बनाए, तब तक धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। इसलिए है जीव! स्वाभाविक चैतन्य की श्रद्धा कर, उसका ज्ञान कर! आनन्दकन्द आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्रता करना ही धर्म की क्रिया है; इसके अतिरिक्त कोई धर्म की क्रिया नहीं है। ऐसी धर्म की क्रिया ही आत्मा के सच्चे सुख का उपाय है।

नव-तत्त्व

[पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

(गतांक से आगे)

(१४) पुण्यतत्त्व

जीव में दया, दान, पूजा, भक्ति अथवा अन्य किसी निमित्त से कषाय की मन्दता के भाव होते हैं, वे भाव पुण्य हैं– आत्मा की अवस्था में होनेवाला क्षणिक शुभविकार है। वह पर-पदार्थ के लक्ष्य से होने के कारण, आत्मा का स्वरूप नहीं है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए जीव, पाप की भाँति पुण्य का भी अभाव करके मात्र आत्मस्वभाव में रहना चाहता है। यदि आत्मा की वर्तमानदशा में पुण्यरूप विकारी भावों को स्वीकार न करे, तो वह पुण्य से रहित आत्मा के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान नहीं कर सकता।

और जीव को जो पुण्य होता है, वह पैसे से या दूसरे जीव के बचाने से नहीं होता; क्योंकि पैसा जड़ पदार्थ है; उसका आना-जाना जीव के अधीन नहीं है, इससे वास्तव में वह जड़ रुपये-पैसे को नहीं दे सकता, और दूसरा जीव अपनी आयु के कारण बचता है, यह जीव उसे बचा नहीं सकता। इसलिए पैसे से और दूसरे जीव के बचने से इसे पुण्य नहीं होता; किन्तु पैसे के प्रति जो राग है,उसे कम करने से और अपने अनुकम्पा के भाव से पुण्य होता है। कितने ही लोग दया-दान के भाव को पाप कहते हैं, वह बात यथार्थ नहीं है। जीव को जो लोभ घटाने का भाव और प्राणी के प्रति अनुकम्पा का भाव होता है, वह पुण्यभाव है। वह भाव, पाप नहीं है और धर्म भी नहीं है। धर्म तो पुण्य और पाप से रहित बिलकुल भिन्न ही वस्तु है। वह तो आत्मा का अज्ञान, राग-द्वेष रहित स्वभाव है। जो पुण्य को पाप मानते हैं, उन्हें धर्म या धर्म का भान नहीं हो सकता। जिस प्रकार हिंसा-झूठ इत्यादि जीव की अवस्था में होनेवाले भाव पाप हैं, वैसे ही उसकी अवस्था में होनेवाले दया-दान-तृष्णा घटाने के भाव, पुण्य हैं। दया-दान में पाप माननेवाले कहते हैं कि 'हम दूसरे जीव को बचाते हैं, तो वह जीव जितने पाप करेगा, उसके पाप अपने को लगेंगे; गरीब को पैसा देंगे और उसने वह बुरे कार्यें में लगाया तो उसका पाप अपने को लगेगा।' उनकी यह बात बिलकुल मिथ्या है। पाप-पुण्य पर से लगता है या अपने परिणामों से होता है? पुण्य तो अपनी तृष्णा घटाने से होता है। दूसरा जीव क्या करेगा, बाद में अधिक पाप करेगा या पाप करेगा, उससे इसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

लक्ष्मी पर से राग कम करने की वृत्ति होती है, वह आत्मा की अवस्था में होनेवाला

पुण्यभाव है। पुण्य को स्वीकार न करे तो नवतत्त्व सिद्ध नहीं होते। अरे! किसी भी एक तत्त्व को स्वीकार न करे तो कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

जिस प्रकार पापतत्त्व को न माने तो 'मैं इस पापभाव को दूर करके धर्म करूँ, अपना हित करूँ'–यह रहता ही नहीं; वैसे ही आत्मा में होनेवाली शुभवृत्ति, दयादि के शुभभाव जो कि पुण्यतत्त्व है, उसे यथावत् स्वीकार न करे और उसी को पाप कहे तो उसने नवततत्त्वों को नहीं जाना है। पुण्य-पाप दोनों भाव मलिन हैं, वे आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह धर्म या धर्म का साधन नहीं है – ऐसा स्वीकार न करे तो, मैं इन पुण्य-पापरूपभावों को दूर करके स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके शुद्धता प्रगट करूँ, वह भी नहीं रहता।

पिंजरापोल में जीवों के बचाने के भाव को कितने ही लोग पाप कहते हैं; वे पापतत्त्व और पुण्यतत्त्व के भिन्न स्वरूप को नहीं समझते। पुण्य को पाप माने या पाप को पुण्य माने अथवा दोनों मलिन है, उन्हें मलिन न माने, पुण्य को धर्म अथवा धर्म का कारण माने तो वह बात भी सच्ची नहीं है; उसने पुण्य, पाप और धर्म के स्वरूप को पृथक् नहीं जाना है।

जिस प्रकार आत्मा त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से शुभाशुभ विकाररहित शुद्ध है, वैसे ही पर्याय से भी आत्मा वर्तमान संसार अवस्था में शुद्ध है – ऐसा माने तो उसे मलिनता को दूर करके शुद्ध होने का अवसर नहीं रहता। आत्मा वर्तमान पर्याय में मलिन है; उसकी पर्याय में पुण्य-पापरूप मलिनता होती है, उसे न माने तो 'उस मलिनता से रहित ज्ञाता-दृष्टा मेरा स्वभाव है, उसका आश्रय लेकर मैं धर्म करूँ' – ऐसा उसे रहता ही नहीं। पुण्य और पाप दोनों की मलिन कहा है। दोनों को मलिनतारूप से स्वीकार न करे तो उन दोनों क्षणिकभावों का अभाव करके त्रिकाली शुद्धस्वभाव की ओर उन्मुख होना नहीं रहता। पुण्य और पाप को –दोनों को भिन्न न जाने तो नवतत्त्व नहीं रहते; इसलिए पुण्य और पाप दोनों पृथक् तत्त्व हैं। इस प्रकार पाप की भाँति पुण्य भी तत्त्व है –ऐसा सिद्ध हुआ।

(१५) आस्रव

पुण्य, पाप, आस्रव और बंध, इन चार मलिन तत्त्वों में पुण्य और पाप दो तत्त्वों की बात हुई। अब, पुण्य-पाप दोनों की मलिनता की अपेक्षा से एक करके उन्हें आस्रव कहते हैं। पुण्य-पाप दोनों विकाररूप से एकरूप हैं, वह आस्रवतत्त्व है। पुण्य-पाप दोनों मूल चैतन्यस्वभाव में नहीं हैं, जीव ने अवस्था में नवीन कृत्रिम तैयार किये हैं; इसलिए दोनों को एकरूप देकर उसे आस्रवतत्त्व कहा है। इस प्रकार पुण्य-पाप, आत्मा का स्वभाव न होने से, और क्षणिक परलक्ष्य

से नवीन होते-होने से आते होने से अर्थात् कृत्रिम तैयार होने से दोनों को एक नाम देकर आस्रव कहा है। इस प्रकार आस्रवतत्त्व सिद्ध हुआ।

(१६) बन्ध-तत्त्व

ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा की वर्तमान अवस्था में शुभ-अशुभभाव अथवा मोह-राग-द्वेषरूप भावों का होना, क्षणिक कृत्रिम विकारों का परलक्ष्य से तैयार होना, सो आस्रवतत्त्व हैं; और उन मोह-राग-द्वेषादि भावों में जीव का रुकना, सो बन्ध है। मलिनता का होना, वह आस्रव और मलिनता का रुकना, सो बन्ध। मलिनता में रुककर विकार की वृद्धि करना, सो बन्ध है। इस प्रकार आत्मा की पर्याय में पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध, इन मलिन भावों का स्वीकार न हो, तो उनसे छूटनेरूप धर्म करने का अवकाश नहीं रहता। भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जीवादि नवतत्त्वों का स्वरूप कहा है, वैसा न समझे तो उसे अज्ञान दूर करके धर्म करने का अवसर नहीं रहता।

'मुझे धर्म करना है' – ऐसी जिज्ञासा इस जीव को उत्पन्न होती है। इस जिज्ञासा में नवतत्त्व सिद्ध होते हैं। 'मुझे धर्म करना है' इस ध्वनि में 'मुझे' कहने से मैं एक जीवतत्त्व हूँ, इस प्रकार प्रथम जीव सिद्ध होता है। मैं अपनी वर्तमान अवस्था में रुकता हूँ, उस रुकने में मुझसे अन्य-विजातीय तत्त्व निमित्त है, क्योंकि मात्र आत्मस्वभाव रुकने का कारण नहीं होता, किन्तु आत्मस्वभाव से विपरीत स्वभाववाले परद्रव्य के लक्ष्य से जीव रुकता है; इसलिए एक दूसरा निमित्त है, वह अजीवतत्त्व है। जीव स्वयं अपनी भूल से परलक्ष्य से विकाररूप परिणमित होता है; वह विकार पुण्य और पाप – ऐसे दो प्रकार का है।

पुण्य-पाप दोनों विकार होने से मलिनता की अपेक्षा से दोनों मिलकर आस्रव है; उस मलिनदशा में रुकना सो बन्धदशा है। इस प्रकार चार मलिनतत्त्व जीव की क्षणिक अवस्था में हैं। इन चार मलिन दशाओं को यथावत् स्वीकार न करे तो 'मुझे मलिनता दूर करके धर्म करना है' – ऐसी जिज्ञासा जागृत नहीं हो सकेगी, और 'पुण्य-पाप इत्यादि से छूटकर स्वभाव में जाना, (बन्ध में न रुककर स्वभाव में जाना) नहीं रहता। इसलिए जीव की अवस्था में चार मलिनतत्त्व सिद्ध होते है।'

(१७) संवरतत्त्व

और इस प्रकार जहाँ चार मलिन भावों का स्वीकार हुआ, वहाँ वे मलिनभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो 'चैतन्य-निर्मल ज्ञानतत्त्व हूँ' – ऐसे श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुए है, वह संवरतत्त्व है–वह निर्मलदशा

है। मैं पुण्य,पाप, आस्रव और बन्ध नहीं हूँ, मैं तो निर्मल ज्ञानस्वभावी, ध्रुवतत्त्व हूँ, –ऐसी श्रद्धा होने से अवस्था में विकार को रोका, सो संवर है। विकार का अंशतः रुकना और स्वभाव के आश्रय से अंशतः निर्मल होना, सो संवर है।

चैतन्य, सो जीव और जीव को विकार का निमित्त, सो अजीव। जड़ के लक्ष्य से होनेवाली क्षणिक विकारी दशाएँ, स्वभाव के लक्ष्य से वह क्षणिक विकार अंशतः दूर होने से प्रगट होनेवाली अंशतः निर्मल पर्याय और सम्पूर्ण विकार का नाश होने से प्रगट होनेवाली सम्पूर्ण निर्मल पर्याय- इन सबकी यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान, त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के आश्रय से होता है – वह संवर है। जो उसे स्वीकार न करे, उसे जीव के सम्यग्दर्शनरूपी धर्म नहीं होता। मैं त्रिकाली शुद्ध चैतन्य हूँ, क्षणिक अवस्था में विकार होनेपर भी वह विकार मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। पुण्यादि चार मलिनतत्त्व हैं, वह दुःख है, उससे रहित मेरा त्रिकालीस्वभाव सुखस्वरूप है, सुख मेरे स्वभाव में से आता है– ऐसा जानने से जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह संवर है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होने की दशा, शुद्धता का अंश और विकार को दूर करने का उपाय – ऐसे संवर को न माने तो उसे 'धर्म करना है' –ऐसा नहीं रहता। धर्मदशा प्रारम्भ होने के पश्चात् अंशतः विकार और अंशतः शुद्धता दोनों अपूर्णदशा में साथ होते हैं। जिसे धर्म करना है, उसका इन नवतत्त्वों की यथार्थ प्रतीति के बिना नहीं चल सकता अर्थात् धर्म नहीं हो सकता। और नवतत्त्वों का बराबर ज्ञान करके अपने त्रिकाली ध्रुव शुद्ध आत्मा की दृष्टि करे तो सम्यग्दर्शन धर्म हो। केवल नवतत्त्वों के भेद के राग में रुका रहे, तो धर्म नहीं होगा। नवतत्त्वों के भेद का राग भी विकार है। क्या विकार के लक्ष्य से निर्मलता आती है? नहीं आती।

(१८) निर्जरातत्त्व

पुण्य-पाप की रुचि, विकार की रुचि और उसमें रुकने की अर्थात् बन्ध की रुचि न छोड़े तो प्रथम सम्यग्दर्शन धर्म नहीं होता। विकार होने की और विकार में रुकने की रुचि छोड़ना तथा विकाररहित ध्रुवस्वभाव की रुचि करना, सो सम्यग्दर्शन धर्म है। पश्चात् जो भी कुछ अशुद्धता रही, उसका अंशतः नाश करना और शुद्धता की अंशतः वृद्धि करना, उसे निर्जरा कहते हैं।

(१९) मोक्षतत्त्व

त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, उसमें से पर्याय में शुद्धता हुई है। यदि स्वभाव शुद्ध न हो तो उसे शुद्ध करना रहता ही नहीं; इसलिए त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है; शुद्धि का बाह्य में कोई साधन नहीं है। कोई निमित्त या बाह्य संयोग, शुद्धि के साधन नहीं है, परन्तु अपना त्रिकाली शुद्धस्वभाव ही

शुद्धि अर्थात् धर्म का निश्चय साधन है। लोग बातें करते हैं कि शत्रु को रोकना चाहिए, जिससे वह अपने को हानि न पहुँचा सके; परन्तु वास्तव में तो आत्मा का शत्रु बाह्य में कोई नहीं है; अपनी विकारीदशा ही अपना शत्रु है; इसलिए उसे रोकना चाहिए। स्वाभाव के आश्रय से शुद्धता में वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण विकार दूर हो गया और पूर्ण निर्मलदशा प्रगट हो गई, वह मोक्ष है। इस प्रकार विकारी और अविकारी – ऐसे पर्याय के भेद, तथा पर्याय में होनेवाले निर्मलता के भेद स्वीकार न करे, उसे शुद्धि की वृद्धि के प्रकार सिद्ध नहीं होते।

(२०) नवतत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा का फल

यदि वह नवतत्त्व मानने में न आयें तो कोई बात सिद्ध नहीं होती। (१) जीव न हो तो दुःख दूर किसे करना है? (२) अजीव न हो तो दुःख किसके लक्ष्य से हुआ? (३-४) पुण्य-पापरूप भूल, (५) भूल का होना, और (६) भूल का रुकजाना– इस प्रकार भूल अर्थात् दुःख न हो तो करना क्या रहा? भूल को दूर करके निर्मलता को न माने तो मोक्ष के कारणरूप (७) विकार को रुकना-निर्विकार का प्रगट होना; (८) विकार का अंशतः दूर होना और शुद्धि में विशेष स्थिरता तथा (९) विकार को सर्वथा दूर करके सम्पूर्ण शुद्धता-मोक्ष प्रगट करना, यह कुछ नहीं रहता।

जब से इस जीव ने नवतत्त्वों को यथार्थतया जाना, तब से उसे त्रिकाली चैतन्य का यथार्थ स्वीकार हुआ। पहले जो अकेले विकार में रुकता था, वर्तमानदशा जितना ही आत्मा को मानता था, केवल पुण्य-पाप आदि विकार को ही अपनेरूप से स्वीकार करता था। वह अब, त्रिकाली स्वभाव का भान होने से बदल गया है कि 'मैं इन पुण्य-पाप जितना क्षणिक नहीं हूँ, इन क्षणिक विकारी शुभाशुभभावों से रहित त्रिकाली शुद्ध जीव पदार्थ हूँ'– ऐसे स्वभाव को जिस भाव से स्वीकार किया, उस भाव को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा के यथार्थ भान बिना धर्म में एक पग भी आगे नहीं चला जा सकता; –ऐसी आत्मा की सच्ची श्रद्धा के बिना पुण्य -पाप आदि विकार को दूर करने तथा शुद्धता प्रगट करने के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता।

मोह-राग-द्वेषादि से रहित निर्मल आत्मस्वभाव है, उसका जिस श्रद्धा से स्वीकार किया, उस श्रद्धा के बल से विकार घटने लगा। स्वभाव की दृष्टि द्वारा शुभाशुभ विकार दूर होते-होते आत्मा की अवस्था में जो सर्वथा निर्मलता हुई, उसे मोक्षदशा कहते हैं।

जीव और अजीव दो पदार्थ, उनके संयोग से होनेवाली पुण्य-पाप, आस्रव, बंध–यह चार विकारी दशाएँ, और उन दो के वियोग से होनेवाली संवर-निर्जरा-मोक्ष, यह तीन निर्मल दशाएँ;

इस प्रकार नवतत्त्वों की स्वीकृति बिना धर्म नहीं किया जा सकता। पुण्य-पापादि मलिनता यदि बिलकुल ही न हो तो धर्म क्यों करना? और यदि पुण्य–पापादि विकारी भाव, जीव का स्थायी स्वभाव हो तो उसे किस प्रकार दूर कर सकते हैं? परन्तु जीव को पुण्य-पापादि विकारभाव दूर करके निर्मलदशा प्रगट करना है; जीव को निर्मल पर्याय नवीन प्रगट करना है, दूसरा कुछ नवीन नहीं करना है। जीव तो त्रिकाली ध्रुव शुद्धस्वभावी पदार्थ है, परन्तु वर्तमानदशा में वैसी शुद्धता प्रगट करना है। जिसे ध्रुवस्वभाव का अनुभव करना हो, उसे प्रथम इन नवतत्त्वों को यथावत् समझना चाहिए।

किसका आदर करने से सम्यग्दर्शन होता है?

[नियमसार, गाथा ८ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों से]

यह शुद्धभाव अधिकार चल रहा है। आत्मा का स्वभाव ही शुद्धभाव है, और वही आदरणीय है। इस शुद्धस्वभाव को मानना, सो सम्यग्दर्शन है। आत्मा का शुद्धस्वभाव पर से पृथक् और विकार से रहित किसप्रकार है? वह जानकर, उसकी रुचि करना, सो सम्यग्दर्शन है। स्वभाव क्या है? और परभाव क्या है –यह जाने बिना स्वभाव की रुचि नहीं होती और पर की महिमा नहीं टलती, और वहाँ तक जीव को धर्म भी नहीं होता।

जीव अपने स्वभाव को भूलकर पर की चाहे जैसी रुचि कर और कर्तापने का अभिमान करे किन्तु उससे कहीं परवस्तु अपनी नहीं हो जाती और आप परवस्तु का कुछ कर नहीं सकता। अपने स्वभाव की पूर्णता की महिमा नहीं जानी है, इसलिए विकार से और पर से अपनी महिमा मान रहा है। शुभभाव करे, वहाँ मैंने बहुत किया – ऐसा मान लेता है और इच्छानुसार बाह्य में अनुकूलता देखे, वहाँ तो जानता है कि मैं इससे भरपूर हूँ। परन्तु उस अज्ञानी को खबर नहीं है कि ज्ञान-सुख से परिपूर्ण तो अपना स्वभाव ही है और वही अपने को शरणभूत है, बाहर की कोई

वस्तु किंचित् शरणभूत नहीं नहीं है और विकार भी शरणभूत नहीं है। जिसे अपने स्वभाव की विकार से और पर से भिन्नता भासित नहीं होती और विकार में तथा पर में ही एकाकीरपना मान रहा है, वह अपने शुद्धभाव को उपादेय नहीं जानता; वह मिथ्यादृष्टि है। और जो जीव अपने शुद्धभाव को विकार से तथा पर से पृथक जानकर उपादेय मानता है, वह धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि है।

इस जीव को परवस्तुएँ किंचित् भी शरणभूत नहीं हैं। परन्तु 'मुझे परवस्तुएँ शरणभूत नहीं हैं, और न उनमें मेरा सुख'– ऐसा अज्ञानी को मूढ़बुद्धि के कारण भासित नहीं होता। स्वयं सदैव परिपूर्ण भगवानस्वरूप से अन्तर में स्थित है, उसे तो भूल ही जाता है; और वर्तमान में अशुभ छोड़कर शुभपरिणाम करे, वहाँ आप परिपूर्ण हो – ऐसा अज्ञानी का लगता है; परन्तु श्रीगुरु कहते हैं कि भाई ! पुण्य तेरा स्वरूप नहीं है, पुण्य किया, इससे तेरे आत्मा का बड़प्पन नहीं है; तेरा आत्मा तो पुण्य-पाप रहित इसी समय एकरूप ज्ञानभाव से भरपूर है, इसी में तेरा सुख है, यही तुझे उपादेय है। तू इसे भूलकर पुण्य-पाप में अपना एकत्व मान रहा है और उसमें सुख मानता है, परन्तु भाई ! इस विपरीत मान्यता से तो करोड़ों विच्छुओं के डंक की वेदना की अपेक्षा तू अधिक वेदना भोग रहा है; इसलिए शुद्धस्वभाव के अभ्यास द्वारा यह मान्यता छोड़।

जो शुभ या अशुभ परिणाम होते हैं, वे आत्मा के मूल स्वरूप में नहीं है, परन्तु पर्याय में ऊपर से होनेवाले विकारभाव हैं। उन ऊपर से होनेवाले विकारभावों जितना आत्मा को न मानकर, अन्तर के मूल स्वरूप को देख ! जिसप्रकार समुद्र के जल में कहीं मैली लहरें दिखाई देती हैं, परन्तु कहीं पूरा समुद्र मैला नहीं है, क्षणिक मैली लहरें सारे समुद्र को मैला करने मे समर्थ नहीं है। मैली लहरों के समय भी समुद्र तो निर्मल है। उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यसमुद्र है, उसकी वर्तमानदशा में जो मलिनता दिखायी देती है, वह क्षणिक है, सम्पूर्ण आत्मस्वरूप मैला नहीं है; आत्मस्वरूप तो शुद्ध एकरूप है। जो क्षणिक विकार होता है, वह भाव सम्पूर्ण शुद्धस्वरूप को मलिन करने में समर्थ नहीं है। विकार जितना ही आत्मा को मानना, सो अज्ञान है और शुद्ध आत्मस्वरूप को मानना, वह सम्यग्ज्ञान है।

मीठे जल से भरे हुए समुद्र की लहरों में जो मलिनता दिखायी देती है, उतना ही कहीं सम्पूर्ण समुद्र नहीं है; यदि समुद्र को मूलस्वरूप से देखें तो वह समुद्र और पानी एकरूप स्वच्छ है, लहरों की मलिनता तो बाहर की उपाधि है। उसी प्रकार यह आत्मा सहज चैतन्यरूप है,उसमें वर्तमान में जो विकार भाव दिखायी देता है, वह उसके मूलस्वरूप में नहीं है। यदि अकेले आत्मा को मूलस्वरूप से देखें तो उसके द्रव्य में, गुण में या वर्तमानभाव में भी विकार नहीं है। आत्मा

का मूलस्वरूप शुद्ध है, वह उपादेय है। जिस प्रकार समुद्र का ऐसा स्वभाव है कि वह मैल को अपने में नहीं रहने देता किन्तु उछालकर बाहर फैक देता है; उसी प्रकार इस आत्मतत्त्व में विकारभावों का प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मा अन्तरतत्त्व में बहिरतत्त्व का प्रवेश नहीं है। आत्मा का स्वभाव विकार का नाश करना है; –ऐसा आत्मस्वभाव ही अमृतरूप है, उसकी पहचान के अतिरिक्त अन्य जितने भाव करता है, वे सब विषयरूप-संसारस्वरूप हैं।

पुण्य-पाप परिणामों में य उनके फल को भोगने मैं आनन्द मानना, वह मूढ़ता है। पुण्य परिणाम करके यह मानना कि 'मैंने बहुत अच्छे भाव किये' वह अग्नि के लावे का उपयोग करने जैसा है। जिसप्रकार कोई पागल मनुष्य जलते हुए अंगारे को हाथ पर रखकर ऐसा माने कि मैं अग्नि का उपभोग कर रहा हूँ, मुझे बहुत आनन्द आता है; परन्तु अग्नि से हाथ जला रहा है, इसका उसे भान नहीं है। वैसे ही पुण्य परिणामों के वेदन से तो आकुलतारूपी अग्नि में आत्मा जल रहा है, परन्तु अज्ञानी उसमें शान्ति मानता है।

आत्मा अपने स्वभाव से भरपूर हैं; परन्तु अज्ञानी जीव, स्वभाव की महिमा नहीं समझता, इससे स्वभाव की शरण नहीं करता; उसकी दृष्टि निमित्तों पर है, इससे निमित्तों की उपस्थिति में उसे अपनी शरण मालूम होती है। बाह्य पदार्थों से आप रहित है और अन्तर में शुद्ध आनन्दघन स्वभाव से परिपूर्ण है– वही उपादेय और शरणभूत है। परन्तु उसके भान बिना अपने को बाह्य-क्षणिक वस्तुओं से परिपूर्ण मानता है, अपने को निर्माल्य मानता है; परन्तु बाह्य पदार्थों में से जीव की शान्ति कभी नहीं आ सकती; और यदि किंचित् पुण्य-परिणाम करे तो उससे अपने को परिपूर्ण मानता है, क्षणिक परिणाम में ही अर्पित होकर उसी में आत्मा का सर्वस्व मान बैठा है; परन्तु क्षणिक पुण्य-परिणामरहित पूर्ण वस्तु आनन्दकन्द है, उसे नहीं जानता।

जीव का श्रद्धागुण ऐसा है कि जहाँ उसकी दृष्टि पड़े, वहाँ वह अपने को पूर्ण मानता है। अपना मूलस्वभाव पूर्ण है, उसकी श्रद्धा छोड़कर अज्ञानियों ने विकार में और पर में अपनत्व माना है, इससे विकार से और पर से ही अपने को परिपूर्ण मानते हैं, परन्तु उससे भिन्न स्वरूप है, उसे नहीं जानते। अज्ञानी जहाँ-जहाँ दृष्टि डालते हैं, वहाँ वे परिपूर्ण ही मानते हैं – अपूर्णता नहीं मानते। अन्तर में अपना स्वभाव पूर्ण है, उससे विपरीत होकर बाह्य में भी अपनी पूर्णता मानते हैं। स्वयं पूर्ण है, परन्तु दृष्टि में विपरीत हो गया है, इसलिए बाह्य में पूर्णता मान बैठा है। बाह्य में पूर्णता माननेवाला स्वयं ही पूर्ण है, परन्तु जहाँ पूर्णता है, वहाँ न मानकर, जहाँ नहीं है, वहाँ अपनत्व माना है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा शुद्धस्वरूप ही तुझे उपादेय है, उसी की तू मान्यता कर;

इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ तुझे ग्रहण करने योग्य नहीं है। पर्याय में रागादि होने पर भी वे ग्रहण करने योग्य नहीं है– ऐसी श्रद्धा करना, वह धर्म है। रागादि में आत्मा नहीं है; तथापि वहाँ मिथ्या कल्पना करके अपनत्व मान रहा है, वह असत् मान्यता ही अधर्म है; और जो अपना सत्स्वभाव है, उसी को मान्यता में स्वीकार करना, सो सत् की मान्यता है, और वह धर्म है।

अज्ञानी जीव पैसा, मकान, स्त्री इत्यादि को शरणभूत मानता है, लेकिन जिस समय बिच्छू जमाकर डंक मारता है, तो रोता-चिल्लाता है। उस समय पैसा, बंगला और स्त्री, इत्यादि वस्तुएँ जैसी थीं, वैसी ही होने पर भी क्यों शरणभूत नहीं होती? पहले तो उनमें सुख मानता था न? कहाँ गई तेरी सुख की कल्पना? इसलिए हे अज्ञानी! तू समझ कि यह कोई भी बाह्य पदार्थ तुझे शरणभूत नहीं है; उनमें सुख की जो कल्पना की थी, वह कल्पना भी शरणभूत नहीं है और जिसके फल में वे संयोग प्राप्त हुए हैं, वह पुण्य भी तुझे शरणभूत नहीं है। यह सब तुझसे बाह्यतत्त्व हैं और तेरा जो एकरूप चैतन्यस्वभाव है, वह अंतरतत्त्व है और वही शरणभूत है। उस स्वभाव की पहचान आचार्यदेव इस गाथा में कराते हैं।

यह आत्मा अपन गुणों से और पर्यायों से पूर्ण है। वर्तमान पर्याय में जो अपूर्णता दिखायी देती है, उतना ही वह नहीं है। पर्याय का लक्ष्य छोड़कर द्रव्यस्वभाव के लक्ष्य से जो एकरूप स्वभाव ज्ञात होता है, वही आत्मतत्त्व है और वही उपादेय है। जहाँ तक उसका अनुभव नहीं होता, वहाँ तक उसके लक्ष्य से बारम्बार उसका श्रवण-मनन करना चाहिए, और उसकी महिमा का बारम्बार चिन्तवन करना चाहिए। अनादि से पर्याय जितना माानकर स्वयं उसकी महिमा में अटका हुआ है और विकार का ही अनुभव किया है, उसके बदले स्वभाव की महिमा करे तो विकार रहित शुद्धभाव का अनुभव होता है और विकार की महिमा छूट जाती है। सुखी होने का मार्ग यही है।

आत्मा एकरूप द्रव्य है; उसकी पर्याय में सातत्त्वों के विकल्परूपी लहरें उठती हैं, वह आत्मा नहीं है। और नवपदार्थ के रागमिश्रित विचार आते हैं, वह भी आत्मा नहीं है। 'मैं जीव हूँ'– ऐसे विकल्प में रुकना, वह अज्ञानबुद्धि है, क्योंकि 'मैं जीव हूँ - अजीव नहीं हूँ'–ऐसे विकल्प आत्मा नहीं हैं; विकल्प तो मलिन तरंग है, शुभराग है, उसे आत्मा मानना तो एक मैली लहर को ही पूरा समुद्र मान लेने जैसा है; उस विकल्प को निकाल देने से जो अकेला चैतन्यदल रह जाता है, वह आत्मस्वभाव है। बुद्धिमान पुरुष एक मैली लहर को देखकर सारे समुद्र को मलिन नहीं मान लेता, परन्तु यह जानता है कि सारा समुद्र स्वच्छ है, यह मलिन लहर उसका

स्वरूप नहीं है। समुद्र उस मलिनता को उछालकर बाहर फैंक देगा। उसी प्रकार जीव-अजीवादि के जो विकल्प उठते हैं, वे मलिन लहर जैसा क्षणिक विकार है, सम्पूर्ण आत्मा विकारयुक्त नहीं है। आत्मा का स्वभाव उस विकाररूप नहीं हो गया है – ऐसा ज्ञानी जानते हैं। 'मैं जीव हूँ और प्रयत्न द्वारा अपनी मोक्षदशा प्रगट करूँ'– ऐसा विकल्प उठे, वह विकार है; ज्ञानी उसे स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होने देते, परन्तु भेदज्ञान के बल से उसे पृथक् का पृथक् ही रखते हैं; इससे चैतन्यस्वभाव के बल से वे विकार को उछालकर बाहर फैंक देते हैं। परन्तु अज्ञानी तो विकार और आत्मा को एकमेक ही जानता है, इससे वह कभी विकार से मुक्त नहीं होता।

पर्याय में चाहे जैसे मलिन भाव हों, वे एक समयपर्यन्त के ही हैं, और वे स्वभाव के बाहर ही रहते हैं, स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होते। जैसे कोई मनुष्य लकड़ी द्वारा मैली लहर को समुद्र में मिलाने का प्रयत्न करे, परन्तु वह मलिनता समुद्र में प्रविष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि समुद्र का स्वभाव ऐसा है कि वह मैल को अपने में प्रविष्ट नहीं होने देता। वैसे ही यह आत्मा परमपारिणामिक स्वभावरूप चैतन्यसमुद्र है, और विकारी अवस्था मैली लहर के समान है। मैली अवस्था एक ही समयपर्यन्त की है, वह अवस्था आत्मा के स्वभाव में एकमेक नहीं होती। आत्मा का स्वभाव कभी विकारी नहीं हो जाता। आत्मा का स्वभाव, विकार से पृथक् रहने का ही है। ज्ञानी जानते हैं कि शुभराग के समस्त विकल्प मेरे स्वभाव की वस्तु नहीं है, परन्तु अन्तर में जो सदा एकरूप ज्ञायकस्वभाव है, वही मैं हूँ और वही मुझे आदरणीय है; उसकी श्रद्धा करके उसी में एकाग्र होना उचित है; इस प्रकार अपने अन्तर-स्वभाव की प्रतीति द्वारा उसी में आदरबुद्धि हो, उसका नाम शुद्धभाव का ग्रहण है और वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वही 'नियमसार' है। जिसने ऐसा शुद्धात्मा का ग्रहण किया है, वह सम्यग्दृष्टि है और उसे बन्धन नहीं होता; क्योंकि वह जीव, बन्ध को और आत्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानकर बन्ध को छोड़ता है और आत्मस्वभाव को ही ग्रहण करता है, इससे उसे बन्धन नहीं होता। यह बात समयसार के बन्ध अधिकार में है। इस समय ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है, उसकी बात चल रही है।

आत्मा किसी पर का कर्ता या हर्ता नहीं है और न कोई आत्मा का कर्ता हर्ता है। आत्मा स्वयं पर के अवलम्बन से रहित है। पर की अपेक्षा से रहित अपने सहज ज्ञातास्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। विकल्प के द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं होता। विकल्प आत्मा की जाति नहीं है। विकल्परहित आत्मस्वभाव है, वही ग्रहण करने योग्य है। आत्मा का जो स्वभाव है, उसे श्रद्धा में मानना, ज्ञान में जानना और उसमें एकाग्र होना – उसका नाम शुद्धात्मा का ग्रहण है।

भव-भ्रमण का भय

[पूज्य श्री कानजीस्वामी का व्याख्यान]

सच्चा तत्त्व क्या है? उसकी यह बात चल रही है। आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर अनन्तकाल से चौरासी लाख की योनियों में जन्म धारण करके भ्रमण कर रहा है। यह शरीर तो नवीन है और उसे श्मशान में राख होना है। आत्मा के भान बिना ऐसे अनन्त शरीर हो चुके हैं, और जो आत्मा का भान नहीं करेगा, उसे अभी अनन्त शरीर धारण करना पड़ेंगे।

'अरे रे! कहाँ तक मुझे यह जन्म-मरण करना है? इस भव-भ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं?' इस प्रकार जब तक चौरासी के अवतार का भय न हो, तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं' अर्थात् भव-भ्रमण का भय हुए बिना आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है; अनन्तकाल से संसार में रुलते हुए कहीं भी विश्राम नहीं मिला; सच्ची समझ से ही आत्मा को विश्राम मिलता है।

एक सर्प को देखने से कितना भारी भय होता है? क्योंकि शरीर पर ममत्व और प्रीति है। अरे प्राणी! एक शरीर को सर्प के डसने का इतना भय है तो अनन्त जन्म-मरण का भय क्यों नहीं है? आत्मा की प्रतीति के बिना अनन्त अवतार के दुःख खड़े हैं, उनका भय क्यों नहीं होता? यह भव पूर्ण हुआ कि वहीं दूसरा भव तैयार है– इस प्रकार एक पश्चात् दूसरा भव अनन्तकाल से कर रहा है। यदि आत्मा स्वतः सच्ची समझ न करे तो जन्म-मरण नहीं रुकता। अरे रे! जिसे चौरासी के अवतार का भय नहीं है, वह जीव आत्मा का समझने की प्रीति नहीं करता। अरे! तेरा यह चौरासी के अवतार में परिभ्रमण कैसे रुकेगा– इस प्रकार अन्तरङ्ग में भव-भ्रमण का भय लगे तो आत्मा की दरकार रखकर यथार्थ समझने का प्रयत्न करे। यह जीव अनन्तबार ऐसा सेठ हुआ कि करोड़ों रुपये कमाये, और घर-घर में भीख माँगकर पेट भरनेवाला भिखारी भी अनन्तबार हुआ। आत्मा के भान बिना पुण्य करके महान देव भी अनन्तबार हुआ, परन्तु अभी भव-भ्रमण की थकान मालूम नहीं पड़ती। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! 'अब मुझे भव नहीं चाहिए'– इस प्रकार यदि तुझे भव भ्रमण से थकान महसूस मालूम हुई हो तो सत्समागम से आत्मा की प्रीति करके उसे समझ। इसके अतिरिक्त कोई शरण नहीं है।

सच्ची समझ मुख्यतया मनुष्यभव में ही मिलती है। ऐसा मनुष्यभव बहुत दुर्लभ है। मनुष्यपना तो आत्मा की समझ करने से ही सार्थक है। लोग कहते हैं कि 'चलो भाई, मेला देखने;

यह मनुष्यभव फिर नहीं मिलेगा, इसलिए चलो देख लें।' अरे भाई ! क्या यह मनुष्यभव मेला देखने के लिए मिला है? अहो! अज्ञानी जीव यह मनुष्यभव पाकर विषय-भोगों में सुख मानकर रुक जाता है। जिस प्रकार बालक, पेड़े के लिए हजारों रुपये का हार दे देता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव, पुण्य-पाप और विषयभोग के स्वाद के पास चैतन्यरूपी अमूल्य हार को बेच देता है! अमूल्य मनुष्यभव में आत्मा को समझने के बदले विषयभोगों में जीवन गवाँ देता है।

आत्मा की रुचि और मिठास छोड़कर जो जीव पैसा-शरीर तथा भोग की रुचि और मिठास करता है, वह जीव आत्मस्वभाव की हत्या और भावमरण करता है। ऐसे भावमरण को दूर करने के लिए करुणा करके श्री आचार्यदेव ने यह रचना की है। क्षणिक विकार को अपना मानकर आत्मस्वभाव का अनादर करना, वह भावमरण है – मृत्यु है। आत्मस्वभाव अमर है, उसे पहचाने तो भावमरण दूर हो। इसलिए हे भाई ! यदि तुझे भव के दुःखों का डर है तो आत्मा को समझने की प्रीति कर। जन्म-मरण के अन्त की बात अपूर्व है, मँहगी है। जिसके समझने की तीव्र आकाँक्षा जागृत हुई हो, उसकी समझ में आती है।

जिस प्रकार कुवांरी लड़की पिता के घर को अपना मानती हैं और उसकी सम्पत्ति को अपना कहती है, परन्तु जब कहीं सगाई– सम्बन्ध निश्चित किया, वहाँ तुरन्त ही मान्यता बदल जाती है कि – यह घर और यह सम्पत्ति मेरी नहीं है। देखो, मान्यता बदलने में कितनी देर लगी? उसी प्रकार अनादि से संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव, शरीर को ही अपना घर मान बैठा है, परन्तु जहाँ ज्ञानी ने समझाया कि – 'सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय'– समस्त आत्मा अपने स्वभाव से सिद्ध जैसे हैं –ऐसी रुचि और ज्ञान हुआ, वहाँ तुरन्त रुचि बदल गई कि यह पुण्य-पाप या शरीर मेरे नहीं है, मैं तो सिद्ध जैसा हूँ। सिद्धत्व मेरा स्वरूप है।

जिस प्रकार सगाई होने के पश्चात् लड़की एक-दो वर्ष पिता के घर रहे तो भी लक्ष्य तो सुसराल पर ही रहता है। उसी प्रकार जहाँ आत्मस्वभाव का भान हुआ, वहाँ सिद्ध के साथ सगाई हुई; अब यदि कुछ समय–तीन-चार भव संसार में रहे, तथापि धर्मात्मा का लक्ष्य बदल गया है। सिद्धसमान जो स्वभाव है, वह मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ – इस प्रकार अन्तर में दृष्टि बदल गई है। यह अन्तर की अपूर्व बात है। बिलकुल सरल रीति से कही जा रही है। दूसरी बातें तो सारे जीवनभर सुनी होती हैं, परन्तु यह आत्मा की अपूर्व बात है, यह क्वचित् ही सुनने को मिलती है। प्रभो! तूने अपने आत्मा की बात को कभी नहीं सुना है।

अन्तर में विचार करो कि आत्मा का प्रेम कितना है, और स्त्री-बच्चों पर कितना प्रेम है?

अन्तर में जो पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, वही मैं हूँ – ऐसा मानकर उसकी प्रीति करता है, परन्तु आत्मा कौन है, उसे नहीं समझता। बाह्य में 'यह अच्छा और यह बुरा' ऐसा मानकर रुकता है, परन्तु आत्मा को नहीं जानता। अच्छा-बुरा कर-करके अज्ञानी तो संसार में परिभ्रमण करता है और ज्ञानी, पर से भिन्न आत्मा को जानकर निर्मलपर्याय प्रगट करके सिद्ध हो जाते हैं।

इस जगत में प्रत्येक वस्तु में अपना चतुष्टय होता है। भगवान ने इस जगत में छह द्रव्य देखे हैं, उन प्रत्येक के अपने-अपने चतुष्टय होते हैं। चतुष्टय अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव। लोटे में पानी भरो तो जैसा लोटे का आहार हो, वैसा ही आकार पानी का हो जाता है, परन्तु वहाँ लोटे का और पानी आकार भिन्न है; लोटे का आकार लोटे में है और पानी का पानी में है। दोनों द्रव्य भी पृथक् है और क्षेत्र भी पृथक् है। दोनों की वर्तमान दशा, वह उनका काल है और उनकी जाति को भाव कहा जाता है। ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव प्रत्येक वस्तु में होते हैं।

इसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता, सम्यग्ज्ञान के बिना आत्मा के साथ सम्बन्ध-सगाई नहीं होती; और सगाई हुए बिना आत्मा की लौ नहीं लगती; लौ लगे बिना मुक्ति नहीं होती। जिस प्रकार यह अंगुलियाँ पृथक्-पृथक् हैं; एक अंगुली है, वह दूसरी अंगुली नहीं है। उसीप्रकार समस्त वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से सत् और पर के स्वरूप से असत् है।

जैसे घड़ी का स्वभाव समय देने का है, परन्तु उसमें मिठास देने का स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान करने का है, पुण्य-पाप करने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान करने के लिए अन्तर में एकाग्र होना पड़ता है, परन्तु बाह्य क्षेत्र में बढ़कर एकाग्र नहीं होना पड़ता, क्योंकि आत्मा के ज्ञान का क्षेत्र अन्तर में है; अन्तरोन्मुख होकर आत्मा को पहचाने तो सर्व परपदार्थों से ममत्व दूर हो जाये, अपना सच्चा सुख प्राप्त करे और पर में जो सुख का आरोप किया, वह दूर हो जाये।

जैसे आम का एक झाड़ हो, उस पर तोता ऊपर से आकर आम खाता है और चिवंटी तने को पकड़कर धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर आम खाती है; परन्तु दोनों को स्वाद तो समान ही है। उसी प्रकार कोई ज्ञानी जल्दी पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और किन्हीं को आत्मा की रुचि होती है तथा धीरे-धीरे समझते हैं; वे भी अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं। दोनों के आत्मा का सुख समान है।

मरण समय कहते हैं कि कि अब 'भगवान का नाम लो, आत्मा का चिंतवन करो! लेकिन भाई! एकबार जीवित ही आत्मा की ओर देख ले! व्यर्थ का जो अभिमान करता है, उसे छोड़कर आत्मा में ज्ञाता-दृष्टा रहे तो आकुलता मिट कर शान्ति हो।'

आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण है, और पर से शून्य है, भगवान आत्मा, ज्ञान से भरा हुआ है और राग-द्वेष से शून्य है; ऐसे आत्मा का भान करना, वह सुई में डोरा पिराने जैसा है। जिस प्रकार डोरा पिरोयी हुई सुई यदि एकबार कूडे में भी चली जाये तो भी वह खोती नहीं है, उसी प्रकार जिसने अपने आत्मा में सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरोया है, उसके कदाचित् एकाध भव हो, तथापि उसका आत्मभान दूर नहीं होता और दीर्घ संसार में परिभ्रमण नहीं करता। इसलिए जिसे भवभ्रमण का भय हो, उसे इस मनुष्यभव में सत्समागम करके आत्मा में सच्ची समझरूपी डोरा पिरो लेना चाहिए।

सत्य -स्वरूप

अपना शुद्धात्मा किस प्रकार ज्ञात होता है? बाह्य क्रिया के शुभराग से आत्मा समझ में नहीं आता, परन्तु अन्तर में ज्ञान की क्रिया से समझ में आता है। सच्चे ज्ञान के द्वारा आत्मा पहचाना जाता है; इसके अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से वह नहीं जाना जाता। जैसा सत्यस्वरूप है, वैसा ही अपने ज्ञान में स्वीकार करने से सत् प्रगट होता है, परन्तु स्वरूप को अन्य प्रकार से माने तो सत् प्रगट नहीं होता। अज्ञानी जीव असत्य को सत्य मानकर उसका सेवन करें तो उससे कहीं उन्हें सत्यधर्म प्रगट नहीं होता और जो सत्यस्वरूप है, वह विपरीत नहीं हो जाता। (नियमसार-प्रवचन)

आत्मा को समझ लेने की महिमा

[श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

यह सद्बोधचन्द्रोदय अधिकार है। यह आत्मा अनादि का है, परन्तु वह किस स्वभाव से है, यह बात आत्मा ने एक क्षणमात्र भी नहीं जानी। सद्बोध-चन्द्रोदय अर्थात् सच्चे ज्ञानरूपी चन्द्र का उदय। आत्मा के स्वरूप को पहचाने तो सच्चा ज्ञान प्रगट हो; वह सत्समागम के बिना कभी ज्ञात नहीं हो सकता। यह शरीर तो आत्मा का नहीं है, परन्तु अन्तरङ्ग में जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप, क्रोध-भक्ति इत्यादि भाव होते हैं, वह भी विकार है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; आत्मा का स्वरूप तो उसे कहा जाता है जो नित्यस्थायी रहे। आत्मा जिस स्वरूप से है, उस स्वरूप से एक सेकेण्डमात्र यदि जीव समझे तो उसे जन्म-मरण न रहे। जिन्होंने राग-द्वेष दूर करके पूर्ण परमात्मदशा प्रगट की है – ऐसे भगवान अरहन्त सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से दिव्यध्वनि छूटती है, उसमें आत्मस्वभाव की बात आती है, उसे समझकर जो आत्मा का अनुभव करता है,उसके जन्म-मरण का नाश होता है।

यहाँ उस आत्मस्वरूप की बात चलती है। वह आत्मस्वरूप ऐसा है कि बृहस्पति भी उसका वर्णन वाणी से नहीं कर सकते। जिस प्रकार घी का स्वाद जाना जाता है, परन्तु वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता। उसी प्रकार आत्मस्वभाव की महिमा अनुभव में आती है, परन्तु वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। जिस स्वरूप से आत्मा है, उसी स्वरूप से उसे ज्ञान से जानना-मानना और अनुभवन करना ही धर्म है; इसके अतिरिक्त बाह्य में कहीं धर्म नहीं है। अरे भाई! धर्म तो अन्तर की वस्तु है, कहीं बाहर की वस्तु नहीं है। पुण्य करे तो उससे बाह्य राजपद या देवपद मिलते हैं, परन्तु जिससे जन्म-मरण का अन्त हो, ऐसा धर्म उससे भिन्न है। धर्म तो ऐसा है कि यदि जीव एक सेकेण्ड भी उसका सेवन करे तो मुक्ति हो जाये।

जिस प्रकार दियासलाई के सिरे में अग्नि भरी हुई है, उसमें से वह प्रगट होती है, उसी प्रकार आत्मा की शक्ति में केवलज्ञान ज्योति होने की शक्ति है, उस शक्ति को पहचानकर उसमें एकाग्रता करने से केवलज्ञान प्रगट होकर आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है। क्षणिक पुण्य-पाप के विश्वास से आत्मा का कल्याण नहीं होता; और यह शरीर जड़ है, उसके विश्वास से भी आत्मा का हित नहीं होता; परन्तु अपने में परमात्मा होने की शक्ति है, उसे पहचानकर उसके विश्वास से अन्तर की शक्ति प्रगट होकर स्वयं परमात्मा होता है। इसलिए हे जीव! अन्तर में परमात्मस्वभाव

है, उसका विश्वास कर! शरीर, पैसा या पुण्य-पाप क्षणिक हैं, उनके विश्वास से तेरा कल्याण नहीं होगा, इसलिए अपना स्वरूप क्या है, उसकी पहचान तो कर!

लैंडीपीपल में से चरपराहट प्रगट होती है, क्योंकि उसमें भरी है, परन्तु चूहे की लैंडी में से चरपराहट प्रगट नहीं होती; उसी प्रकार आत्मा में ज्ञानशक्ति भरी हुई है, उसम में से ज्ञान प्रगट होता है। ज्ञानी का उपदेश आत्मा की पहचान करने का है; सत्समागम से उसकी पहचान करना चाहिए। अनन्तानन्तकाल से यह आत्मा है, तो वह कैसा है? उसे जानने की दरकार रखना चाहिए। मनुष्य देह अनन्तकाल में मिलती है, उसमें आत्मा को समझने की दरकार रखनी चाहिए। सत्समागम से बारम्बार उसका परिचय करके समझना चाहिए। उसकी पहचान करना ही मनुष्यभव धारण करने का यथार्थ फल है। पुण्य करके स्वर्ग में जाये या पाप करके नरक में जाये– वह कोई नवीन नहीं है।

अहो! ऐसी मनुष्य देह मिली है, और यदि आत्मा को न जाने तो अवतार व्यर्थ है। जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश को हृदय में समा देना कठिन है, वैसे ही आत्मस्वभाव का वर्णन वाणी द्वारा करना कठिन है। तथापि जो जीव दरकार रखकर उसे समझना चाहे, उस जीव को सत्समागम से समझ में आता है। अनन्त जीव उसे समझकर मुक्त हुए हैं, इस समय भी आत्मा को समझने वाले हैं और भविष्य में अनन्त होंगे। पुण्य और पाप तो सारी दुनिया करती है, परन्तु आत्मा को समझनेवाले जीव विरले ही होते हैं। पर में सुख माने और सुख के लिए पराश्रय माने, वह तो भिखरी है; कोई लाख रुपये माँगता है, कोई हजार चाहता है और कोई सौ माँगता है; अधिक माँगे वह बड़ा भिखारी और कम माँगे वह छोटा भिखारी। और ऐसा समझे कि अहो! मैं आत्मा हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा सुख मुझमें है, मुझे तो अब आत्मा समझना है– ऐसी जो भावना करता है, वह महाना सम्राट है। भले ही गृहस्थदशा में हो, तथापि अन्तर में आत्मा का भान करे, वह धर्मात्मा है, और उसके जन्म-मरण का अन्त हो जायेगा। जिस प्रकार पर्वत पर बिजली गिरे और उसके दो टुकड़े हो जायें तो वह फिर से नहीं जुड सकता, उसी प्रकार जो जीव एक सेकेण्ड भी आत्मा को समझता है, उसका संसार टूट जाता है। जिसप्रकार किसी के घर लक्ष्मी का ढ़ेर देखकर लोग ऐसा नहीं मानते कि 'यह लक्ष्मी हमारी है' उसी प्रकार धर्मी जीव इन शरीर को या पुण्य-पाप के भावों को अपना स्वरूप नहीं मानते। वे धर्मी जीव आत्मस्वभाव को जानते हैं, परन्तु उसे वाणी द्वारा कहना कठिन है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि–'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां, कही शक्या नहि पण ते श्रीभगवान जो। तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे? अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।'

–ऐसे आत्मा को जाने बिना किसी प्रकार कल्याण नहीं है। जिसने आत्मा को नहीं जाना है और पैसे के आश्रित हो रहा है, वह बड़ा भिखारी है। जैनदर्शन में सात तत्त्व हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जो जानता है, वह जीव है। शरीरादि अजीव हैं, उनमें ज्ञान नहीं है। पुण्य-पाप आस्रव हैं। उन पुण्य-पाप में रुकना, सो बंध है। उन पुण्य-पाप से रहित चैतन्य-मूर्ति आत्मा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है, उसकी पहचान करके स्थिर होना, वह संवर-निर्जरारूप धर्म है और पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो जाये, वह मोक्ष है। पहले तो परिपूर्ण आत्मा का विश्वास आना चाहिए।

अत्यन्त विवेक से, अत्यन्त सत्समागम से, अत्यन्त रुचि और पात्रता से आत्मा समझ में आता है; आत्मा ऐसा नहीं है कि समझ में न आये। यदि आत्मा न समझा जा सके, तो धर्म ही कहाँ से हो? इस जगत में लाखों रुपया मिले या स्वर्ग मिले– वह दुर्लभ नहीं है, किन्तु आत्मा को समझना ही दुर्लभ है। इस मानव जीवन में ऐसे आत्मा को समझ लेना योग्य है।

आत्मा के अन्तर आनन्द में झूलते-झूलते, वन में श्री पद्मनन्दि मुनिवर ने इस शास्त्र की रचना की है; वे जैसा माता ने जन्म दिया, वैसे ही नग्नदिगम्बर सन्त थे; उन्होंने वन में यह बात लिखी है। वे कहते हैं कि इस आत्मस्वभाव की महिमा जगत में जयवन्त प्रवर्तमान है।

अहो! अज्ञानी एक बीड़ी पीने में सुख मानते हैं, मकान में सुख मानते हैं, शरीर-पैसे में सुख मानते हैं, स्त्री में सुख मानते हैं, परन्तु आत्मा में सुख है, उसे नहीं जानते। आत्मतत्त्व ही मोक्षसुख को देनेवाला है। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ऐसे हमारे आत्मतत्त्व की जय हो, और विकार की पराजय हो। जगत के जीव अपनी चैतन्यजाति की महिमा भूलकर पर में सुख के लिए उछल-कूद कर रहे हैं, परन्तु पर में कहीं भी सुख नहीं है, परपदार्थ के ओर की इच्छा दुःख है; सुख तो आत्मा में है, उसे जाने तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का सुख प्रगट होता है। सुख का देनेवाला आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना, वह धर्म है। लोग क्रिया-क्रिया करते हैं, किन्तु आत्मा की यथार्थ पहचान और बहुमान ही निर्विकारी क्रिया है। शरीर की क्रिया में कहीं भी धर्म नहीं है।

जिस प्रकार दौज का चन्द्र उगने के पश्चात् वह क्रमशः पूर्ण होता है; उसी प्रकार आत्मा की यथार्थ समझ एक सेकेण्ड भी प्रगट करे, उसे केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता। जीवन में आत्मा को समझने के लिए थोड़ी-थोड़ी निवृत्ति लेकर राग को कम करना चाहिए।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! आत्मतत्त्व की महिमा जयवन्त हो! अर्थात् आत्मस्वभाव

के आश्रय से हमें जो साधकदशा प्रगट हुई है, वह जयवन्त रहे! वह दशा क्रमशः आगे बढ़कर पूर्ण सिद्धदशा होगी और विकार दूर हो जायेगा।

'णमो अरिहंताणं' और 'णमो सिद्धाणं'– इसमें अरहन्त और सिद्ध को नमस्कार करते हैं; वे अरहन्त और सिद्ध दोनों आत्मा की ही पवित्र दशाएँ हैं, उस नाम का कोई पुरुष नहीं है। अरहन्त और सिद्ध तो पुण्य-पाप को दूर करके वीतराग हो गये हैं। जो पुण्यरहित है, उसे नमस्कार करे और फिर स्वयं पुण्य की भावना करे, उसने वास्तव में अरहन्त या सिद्ध को नमस्कार नहीं किया है। पुण्यरहित वीतराग पुरुष को नमस्कार करनेवाला पुण्य नहीं माँगता। धर्मी के पुण्य-पापभाव होते हैं, परन्तु दृष्टि में ऐसा है कि मुझे यह पुण्य नहीं चाहिए, मेरा स्वरूप पुण्यरहित है, वह मुझे चाहिए है। अहो! मैं अनादि-अनन्त हूँ, मेरा कभी नाश नहीं होता और यह पुण्य-पाप तो नाशवान हैं, यह मेरी वस्तु नहीं है– ऐसा धर्मी जानता है।

अरहन्तों के पुण्य की बलिहारी है! इन्द्र उनके चरण कमल की पूजा करते हैं, तथापि धर्मी-भक्त कहते हैं कि हे नाथ! आप पुण्य-पापरहित वीतराग हुए हो, यह बाह्य सामग्री मुझे नहीं चाहिए परन्तु अन्तर में जो वीतरागदशा प्रगट हुई है, वह चाहिए है। इस प्रकार अरहन्त को नमस्कार करनेवाले जीव को पुण्य की भावना नहीं होती। और मुनि को तो बाह्य में गहनें, कपड़े घरबार आदि कुछ नहीं है, तथापि उनको नमस्कार करनेवाले की ऐसी भावना है कि हे प्रभो! आप के पास घरबार, वस्त्र, गहने आदि कुछ न होने पर भी अन्तर में कोई अपूर्व वस्तु है, वह मुझे चाहिए है। मेरे पास पैसा, घरबार आदि सब है, किन्तु उनमें सुख नहीं है, यह सब तो पुण्य के फल हैं। आप के आत्मा में राग-द्वेष दूर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं, उनमें वास्तविक सुख है– ऐसा समझनेवाला ही वास्तव में धर्मात्मा को नमस्कार कर सकता है। इसलिए आत्मा का स्वरूप, पुण्य-पापरहित है, उसको सर्वप्रथम समझना चाहिए।

मान-अपमान

शुद्ध जीव में मान-अपमान के भावों के स्थान नहीं है। यहाँ त्रिकाली-स्वभाव की बात है। अहो! जो मान-अपमान के भावों से रहित अपने आत्मस्वभाव को उपादेय समझे, उस जीव के पर्याय में भी मान–अपमान भावों के प्रति कितनी उदासीनता प्रवर्तमान रहती है। जिसे अपने आत्महित की आकांक्षा हो, वह जीव जगत के लोगों से होनेवाले अपने मान-अपमान को नहीं देखता; जगत के लोग मुझसे क्या कहेंगे, इस बात की चिन्ता उसे नहीं होती। अहो! किसका मान और किसका अपमान? अपने त्रिकाल-स्वभाव का ही बहुमान करके केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट हो – इससे बढ़कर मान कौन सा होगा? और स्वभाव का विरोध करके नीच गति में जाये, इससे बढ़कर अपमान और क्या होगा? जिस जीव के सम्बन्ध में श्री तीर्थंकर देव के मुख से या सन्तों के मुख से ऐसा निकला कि –'यह जीव भव्य है, यह जीव पात्र है, यह जीव मोक्षगामी है'– तो इससे बढ़कर मान जगत में और कोई नहीं है। और जिस जीव के सम्बन्ध में ऐसा आया कि 'यह जीव अपात्र है, यह जीव अभव्य है, तो इसके जैसा अपमान तीनलोक में कोई नहीं है। भगवान की दिव्यवाणी में जिस जीव का स्वीकार हुआ, उसे जगत के लोगों के मान की आवश्यक्ता नहीं है, और भगवान की वाणी में जिसकी अस्वीकृति हुई, उस जीव को जगत के अपमान की क्या आवश्यक्ता है? अर्थात् जगत के लोग भले ही उसे मान देते हों परन्तु परमार्थ में तो वह अपमानित ही है। वास्तव में कोई दूसरा अपना मान-अपमान नहीं कर सकता। जिस जीव ने अपने पवित्र स्वभाव का आदर करके सम्यग्दर्शनादि पवित्र गुण प्रगट किये हैं, उस जीव ने अपना सच्चा बहुमान किया है, और भगवान की वाणी में भी उसका स्वीकार है। और जिस जीव ने अपने पवित्रस्वभाव का अनादर करके, क्षणिक मान-अपमान के विकारी भावों को अपना स्वरूप माना है, उस जीव ने स्वयं ही अपना अपमान किया है; मिथ्यात्व के कारण वह जीव अनन्त-संसार में भटकता है।

(नियमसार-प्रवचन, गाथा ३९)

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र